

भारतीय योग और जैन चिन्तन-धारा

डॉ० छगनलाल शास्त्री

[सरदार शहर, जिला चूरू (राज०)]

भारतीय चिन्तन-धारा निश्चय ही बड़ी सूक्ष्म रही है। वह क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर गतिमान् होती गई। मांसल जीवन की सामयिक उपयोगिता स्वीकारने के बावजूद जीवन के चरम सत्य का साक्षात्कार करने के लिए भारतीय मानस सदैव आकुल रहा। अतएव—‘ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्, यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः।’ अर्थात् पास में कुछ न हो तो ऋण करके पीए, जब तक जीए, सुख से जीए। मृत देह के जला दिए जाने के बाद फिर क्या बचा रहता है, फिर कौन वापिस आता है? चार्वाक की यह बात सुनने में बड़ी मीठी थी, प्रिय भी लगी पर उद्बोध-प्रवण मानव अन्ततः इससे तृप्त नहीं हुआ, अन्तर्बुभुक्षा, जिज्ञासा, चाह बनी ही रह गई।

बृहदारण्यकोपनिषद् के द्वितीय अध्याय, चतुर्थ ब्राह्मण में वर्णित याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद से यह स्पष्ट है। याज्ञवल्क्य संन्यासी होने को उद्यत हैं। उनके दो पत्नियाँ थीं—मैत्रेयी और कात्यायनी। वे मैत्रेयी से कहते हैं—

“मैत्रेयि इति ह उवाच याज्ञवल्क्य
उद्यास्यन्वा अरंजहमस्मात् स्थानाद् अस्मि
हन्त तेऽनया कात्यायन्या अन्तं करवाणीति।”

अर्थात् मैं ऊर्ध्वगमन करना चाहता हूँ—गार्हस्थ्य से ऊँचा उठ संन्यास लेना चाहता हूँ। अतः अपनी सम्पत्ति का तुम्हारे और कात्यायनी के बीच बँटवारा कर दूँ।

याज्ञवल्क्य बड़े सम्पन्न थे। उनके पास अपरिमित धन-धान्य, सम्पत्ति और वैभव था।
मैत्रेयी ने इसके उत्तर में जो कहा, वास्तव में बड़ा मार्मिक है—

“सा ह उवाच मैत्रेयी। यन्तु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्, कथं तेनामृता स्यामिति। नेति ह उवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्याद् अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति।”

अर्थात् मैत्रेयी ने कहा—भगवन्! यदि यह सारी पृथ्वी धन से परिपूर्ण हो, मुझे प्राप्त हो जाए तो क्या मैं उससे अमर हो सकती हूँ? याज्ञवल्क्य ने कहा—मैत्रेयी! ऐसा नहीं होता। पुष्कल साधन-सामग्री-सम्पन्न जनों का जैसा जीवन होता है, तुम्हारा भी उससे वैसा हो जायेगा पर उससे अमृतत्व की आशा नहीं की जा सकती।

इस पर उद्बुद्धचेता मैत्रेयी अपने आपको स्पष्ट करती है—

“सा ह उवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम्। यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहीति।”

अर्थात् भगवन्! जिससे अमृतत्व की उपलब्धि न हो, उसे लेकर मैं क्या करूँ। अमरत्व के सम्बन्ध में जो आप जानते हैं, मुझे बतलाएँ।



ज्ञानी याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी के इन उद्गारों से प्रभावित होते हैं और वे उसे आत्म-तत्त्व की अनुसन्धित्सा की ओर प्रेरित करते हैं। उनके उस प्रवचन की अन्तिम पंक्तियाँ बड़ी प्रेरक हैं—

“.....आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि ! आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ।”

अर्थात् मैत्रेयी ! आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय तथा निदिध्यासनीय है। उसी के दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान से सब विज्ञात हो जाता है।

याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का कथानक तथा संवाद भारतीय मानस की उस अन्तर्वृत्ति का द्योतक है, जिसे वास्तविक तृप्ति, तुष्टि किंवा शान्ति के लिए कुछ ऐसा चाहिए था, जो उसे बहिर्जगत् में प्राप्त नहीं हो रहा था। आत्म-तत्त्वमूलक चिन्तन के ऊर्ध्वगामी विकास की ओर यह एक सजीव इंगित है।

इसी या एतत्तुल्य पृष्ठभूमि पर आत्मवादी दर्शनों की धारा बहुमुखी आयामों में विस्तार पाती है, जिसका न केवल भारतीय प्रत्युत विश्व-वाङ्मय में अपना अनन्य-साधारण स्थान है।

भारतीय दर्शनों की मूल प्रेरणा

वास्तविक दृष्ट्या यह जगत दुःखमय है। कहने को दुःखनिवारक साधन हैं पर दुःख उनसे सर्वथा ध्वस्त नहीं होते। इसी मानसिक ऊहापोह के आधार पर अधिकांश भारतीय दर्शनों की चिन्तन-धारा दुःख-क्षय के आदर्श से प्रारम्भ होती है। उदाहरणार्थ, यहाँ केवल सांख्य दर्शन का सन्दर्भ उपस्थापित किया जाता है। सांख्यदर्शन की अतिप्रा-माणिक पुस्तक ईश्वरकृष्ण रचित सांख्यकारिका का प्रारम्भ इसी विचार से होता है। उसकी प्रथम कारिका इस प्रकार है—

“दुःखत्रयाभिघातात् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्तोऽभावात् ॥”

आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक दुःखों से मानव पीड़ित है। इसलिए दुःख—अपघातक—दुःख-नाशक कारण की गवेषणा करता है। पर, दृष्ट-बाह्य कारणों से उनका एकान्ततः तथा अत्यन्ततः निवारण नहीं हो पाता।

ईश्वरकृष्ण अपनी पुस्तक की दूसरी कारिका में दृष्ट निवारक कारणों की तरह आनुश्रविक—वेदसम्मत यज्ञ-यागादिक भी अस्वीकार करता है तथा दुःखनिवृत्ति की हेतुता १-पुरुष या आत्मा, २-अव्यक्तप्रकृति तथा व्यक्त महत् से भूतपर्यन्त के विज्ञान—विशिष्ट ज्ञान—सम्यक् ज्ञान में है, वैसा मानता है। वह कारिका इस प्रकार है—

“दृष्टवद् आनुश्रविकः स हि अविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥”

अभिप्रेत

भारतीय दर्शनों का चरम अभिप्रेत मोक्ष है। मोक्ष का तात्पर्य समग्र दुःखों की एकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति है। मोक्ष शब्द, जिसका अर्थ छूटना या छुटकारा पाना है, से यह प्रकट है। यदि गहराई में जायें तो प्रतीत होता है, मोक्ष की व्याख्या में कुछ अन्तर भी रहा है। कतिपय दार्शनिकों ने दुःखों की आत्यन्तिक एकान्तिक निवृत्ति के स्थान पर सहज, शाश्वत सुख-प्राप्ति को मोक्ष शब्द से अभिहित किया है। यह स्वाभाविक है कि एतत्कोटिक सुख की प्राप्ति होने पर दुःखों का सर्वदा के लिए सर्वथा अपगम हो जाता है। वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य, योग और बौद्ध दर्शन पहले पक्ष के परिपोषक हैं तथा वेदान्त और जैनदर्शन दूसरे पक्ष का समर्थन करते हैं। वेदान्त दर्शन में ब्रह्म

सच्चिदानन्दस्वरूप माना गया है अतः अविद्यावच्छिन्न ब्रह्म या जीव में अविद्या के नाश द्वारा नित्य, शाश्वत, सहज, निरतिशय आनन्द की अभिव्यक्ति होती है, वही मोक्ष है। आनन्द ही ब्रह्म का स्वरूप है।

तैत्तिरीयोपनिषद् के षष्ठ अनुवाक के प्रारम्भ में कहा है—

“आनन्दो ब्रह्मैति व्यजानात् । आनन्दात् हि एव ह्यनु इमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति ।”

अर्थात्—ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। आनन्द से ही सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न हुए प्राणी आनन्द से ही जीवित रहते हैं। आनन्द की ओर प्रयाण करते हैं। अन्ततः आनन्द में ही समा जाते हैं।

जैन दर्शन में भी आत्मा को अन्तः—अव्याबाध सुखस्वरूप माना गया है। स्वाभाविक सुख, जो कर्मों के आवरण से आच्छन्न रहता है, कर्मों के सर्वथा, सम्पूर्णतः क्षय होने से उद्घाटित हो जाता है। वही मोक्ष है, क्योंकि वह आत्मा की कर्मों के बन्धन से बिलकुल छूट जाने की स्थिति है। आचार्य उमास्वातिरचित तत्त्वार्थ सूत्र के दशम् अध्याय, तृतीय सूत्र में “कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः” कहा है, जिसका यही आशय है।

साधना-सरणि

मोक्षात्मक ध्येय की सिद्धि के लिए विभिन्न दार्शनिक-परम्पराओं में अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार ज्ञान, चिन्तन, मनन, निदिध्यासन, तदनु रूप आचरण आदि के रूप में एक सुव्यवस्थित सरणि निर्दिष्ट की गई है, जिसका विविधता के बावजूद अपना-अपना महत्त्व है। उनमें पतंजलि का योग-दर्शन एक ऐसा क्रम देता है, जिसकी साधना या अभ्यास-पद्धति अनेक अपेक्षाओं से उपयोगी है। यही कारण है, योग-दर्शन-निर्देशित विधिक्रम को सांख्य, न्याय, वैशेषिक आदि के अतिरिक्त अन्यान्य दर्शनों ने भी बहुत कुछ स्वीकार किया है। यों कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि सभी प्रकार के साधकों ने अपनी परम्परा, अभिरुचि तथा बुद्धि के अनुरूप योगनिरूपित मार्ग का अनुसरण किया है, जो भारतीय दर्शन एवं संस्कृति की समन्वयमूलक प्रवृत्ति का सूचक है।

जैन परम्परा में योग

भारतीय चिन्तन-धारा वैदिक, जैन तथा बौद्ध दर्शन की त्रिवेणी के रूप में प्रवहणशीला रही है। वैदिक ऋषियों, जैन तीर्थंकरों, आचार्यों तथा बौद्ध तत्त्वद्रष्टाओं ने अपनी निःसंग साधना के परिणामस्वरूप ज्ञान एवं अनुभूति के वे दिव्य रत्न दिये हैं, जिनकी आभा कभी धूमिल नहीं होगी। तीनों ही परम्पराओं में योग जैसे महत्त्वपूर्ण, व्यवहार्य तथा जीवन के विकास की प्रक्रिया से सम्बद्ध विषय पर उच्चकोटि का साहित्य रचा गया।

यद्यपि बौद्धों की धार्मिक भाषा पालि रही है जो मागधी-प्राकृत का ही रूपान्तर है तथा जैनों की धार्मिक भाषा—श्वेताम्बरों की अर्द्धमागधी तथा दिगम्बरों की शौरसेनी प्राकृत रही है; पर बौद्धों एवं जैनों का लगभग सारा का सारा दार्शनिक साहित्य संस्कृत में लिखा गया है। गम्भीर, विशाल, भाव-समुच्चय को अति संक्षिप्त शब्दावली में अत्यन्त विशदता और प्रभावकता के साथ व्यक्त करने की संस्कृत भाषा की अपनी असाधारण क्षमता है। इन दोनों ही परम्पराओं में योग पर भी प्रायः अधिकांश रचनाएं संस्कृत भाषा में ही हुई हैं।

प्रमुख जैन लेखक

जैन योग पर लिखने वाले मुख्यतः चार आचार्य हैं—हरिभद्र, हेमचन्द्र, शुभचन्द्र तथा यशोविजय। ये चारों अनेक विषयों के बहुश्रुत पारगामी विद्वान् थे, इनकी कृतियों से यह प्रकट है।

आचार्य हरिभद्र (ई० आठवीं शती) ने योग पर संस्कृत में योगविन्दु तथा योगदृष्टिसमुच्चय, आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र, आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव एवं उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्म-सार, अध्यात्मोपनिषद् व सटीक द्वात्रिंशत् या द्वात्रिंशिकाओं की रचना की। आचार्य हेमचन्द्र का समय बारहवीं शती है। आचार्य शुभचन्द्र भी लगभग इसी आसपास के हैं। उपाध्याय यशोविजय का समय ई० अठारहवीं शताब्दी है।



आचार्य हरिभद्र की प्राकृत भाषा में भी योग पर योगशतक तथा योगविशिका नामक दो कृतियाँ हैं। उन द्वारा संस्कृत में रचित षोडशकप्रकरण भी सुप्रसिद्ध है, जिसके कतिपय अध्यायों में उन्होंने योग के सम्बन्ध में विवेचन किया है।

ध्यानशतक नामक एक प्राचीन प्राकृत-रचना है, जिसकी ४६-४७ गाथाएँ आचार्य वीरसेन द्वारा रचित धवला में उद्धृत हैं। आचार्य हरिभद्र ने इस पर टीका की।

उपाध्याय यशोविजय ने आचार्य हरिभद्र प्रणीत योगविशिका तथा षोडशक पर संस्कृत में टीकाएँ लिखकर प्राचीन गूढतत्त्वों का बड़ा विशद विश्लेषण किया। उन्होंने पतंजलि के योगसूत्र के कतिपय सूत्रों पर भी एक वृत्ति की रचना की, जिनमें पातंजल योग तथा जैन योग का तुलनात्मक विवेचन है।

अज्ञातकर्तृक योगप्रदीप नामक एक पुस्तक प्राप्त है, जिसमें १४३ या १४४ श्लोक मिलते हैं। पुस्तक के परिशीलन से प्रतीत होता है, यह आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव तथा आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र के आधार पर लिखी गई है। इसी प्रकार योगसार नामक एक और ग्रन्थ भी श्वेताम्बर साहित्य में उपलब्ध है, जिसके रचनाकार का उसमें उल्लेख नहीं है। उसमें प्रयुक्त दृष्टान्त आदि से अनुमेय है कि उसकी रचना भी संभवतः आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र के आधार पर ही हुई है।

यशस्तिलक चम्पू के रचयिता आचार्य सोमदेव सूरि की योग पर “योगमार्ग” नामक एक अद्भुत पुस्तक है जो शिखरिणी छन्द में एक अत्यन्त प्रौढ़ रचना है। १२वीं शती में हुए आचार्य भास्करानंदि की संस्कृत में ध्यानस्तव नामक रचना है, जिसमें ध्यान का सुन्दर विश्लेषण है।

उपाध्याय यशोविजय द्वारा संस्कारित तथा अनूदित समाधिशतक नामक कृति भी उल्लेखनीय है, जिसमें कर्त्ता का नाम नहीं है। मंगलाचरण के अन्तर्गत आये एक श्लोक से प्रतीत होता है, उसके कर्त्ता कोई दिगम्बर विद्वान् रहे हों। वह श्लोक निम्नांकित है—

जयन्ति यस्यावदतोऽपि भारती, विभूतयस्तीर्थकृतोऽप्यनीहतुः।

शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे, जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः॥

यहाँ प्रयुक्त “अवदतः अपि भारती” ये पद दृष्टव्य है, जिनसे दिगम्बर-परम्परा में स्वीकृत अभाषात्मक, ऊँकारध्वनिमयी भगवद्-देशना का संकेत प्राप्त होता है।

जैन तत्त्वज्ञान का स्रोत

जैन तत्त्वज्ञान का मुख्य स्रोत अर्द्धभागधी प्राकृत में ग्रथित अंग, उपांग, मूल, छेद, चूलिका एवं प्रकीर्णक सूत्र हैं। इन आगम सूत्रों पर प्राकृत तथा संस्कृत में निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका आदि के रूप में व्याख्या तथा विश्लेषणपरक साहित्य प्रणीत हुआ। संस्कृत-प्राकृत के मिश्रित रूप के प्रयोग की जैनों में विशेष परम्परा रही है, जिसे मणि-प्रवालन्याय की संज्ञा से अभिहित किया गया है। श्वेताम्बर चूर्णी-साहित्य में इस शैली का प्रयोग द्रष्टव्य है। दिगम्बर आचार्य भूतबलि और पुष्पदन्त (लगभग प्रथम-द्वितीय शताब्दी) द्वारा रचित षट् खण्डागम पर आठवीं-नौवीं ई० शती में आचार्य वीरसेन ने बहत्तर सहस्र श्लोक प्रमाण धवला नामक टीका लिखी। आचार्य भूतबलि और पुष्पदन्त के लगभग समसामयिक आचार्य गुणधर के कषाय प्राभृत पर भी उन्होंने टीका लिखना चालू किया। पर, वे ३० सहस्र श्लोक-प्रमाण टीका लिखकर स्वर्गवासी हो गये। टीका-लेखन कार्य आचार्य वीरसेन के विद्वान् शिष्य आचार्य जिनसेन ने पूर्ण किया। कषाय प्राभृत की समग्र टीका साठ सहस्र श्लोक प्रमाण है। यह जयधवला के नाम से प्रसिद्ध है। धवला और जयधवला में चूर्णियों की तरह मणि-प्रवाल-न्यायात्मक संस्कृत-प्राकृत मिश्रित शैली स्वीकार की गई है। अस्तु।

मूल आगम, उन पर रचित उपर्युक्त व्याख्या-साहित्य में जैनदर्शन के विभिन्न अंगों का विस्तृत एवं विशद विश्लेषण प्राप्त है। मूल आगमों में योग के सन्दर्भ में सामग्री तो प्राप्त है और पर्याप्त भी, पर है विकीर्ण रूप में। व्याख्या ग्रन्थों में यत्र-तत्र उसका विस्तार है, जो अनुशीलनीय है। पर वस्तुतः वह सामग्री क्रमबद्ध या व्यवस्थित नहीं है। जिस सन्दर्भ में जो विवेचन-विश्लेषण अपेक्षित हुआ, कर दिया गया तथा उसे वहीं छोड़ दिया गया।

ई० पाँचवी-छठी शताब्दी में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण एक बहुत ही समर्थ आगम-कुशल विद्वान् हुए। जैन आचार्यों के शब्दों में वे दुःषम काल में अन्धकार में निमज्जमान जिन-प्रवचन के उद्योत के लिए दीप सदृश थे। उनका विशेषावश्यकभाष्य नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। उसमें अनेक स्थानों पर योग-सम्बन्धी विषयों का विवेचन है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण की समाधिशतक नामक एक और कृति भी है, जिसका योग से सम्बन्ध है। परिशीलन से ज्ञात होता है, जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने आगम तथा निर्युक्ति आदि में वर्णित विषय से विशेष अधिक नहीं कहा है। उनकी वर्णनशैली भी आगमिक जैसी है।

साधक जीवन के लिए अत्यन्त अपेक्षित योग जैसे उपयोगी विषय पर जैन परम्परा में सबसे पहले सुव्यवस्थित एवं क्रमबद्ध सामग्री उपस्थित करने वाले आचार्य हरिभद्रसूरि हैं। जैन साधक के लिए साधना का मूल वैचारिक आधार जैन आगम हैं। आचार्य हरिभद्र ने जैन आगम वर्णित योगविषयक तथ्य तो ध्यान में रखे ही साथ ही साथ इस सन्दर्भ में अपनी मौलिक उद्भावनाएँ भी प्रस्तुत कीं, जिनका योग-साहित्य में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है।

आचार्य शुभचन्द्र तथा आचार्य हेमचन्द्र ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया पर ज्ञेय है कि इन दोनों के स्रोत एक मात्र आचार्य हरिभद्र नहीं थे। इनकी अपनी परिकल्पना एवं पद्धति थी। फिर भी आचार्य हरिभद्र के विचारों की जहाँ उन्हें ग्राह्यता लगी, उन्होंने रचिपूर्वक उन्हें ग्रहण किया। यद्यपि हेमचन्द्र और शुभचन्द्र जैन परम्परा के श्वेताम्बर तथा दिगम्बर—दो भिन्न आम्नायों से सम्बद्ध थे पर योग के निरूपण में दोनों एक दूसरे से काफी प्रभावित प्रतीत होते हैं।

पतंजल अष्टांग योग तथा जैन साधना

“योगाश्चित्तवृत्ति निरोधः” (योगसूत्र १-२) चित्त की वृत्तियों का सम्पूर्णतः निरोध योग है, यह पतंजलि-कृत योग को परिभाषा है। जब तक चित्तवृत्तियाँ सर्वथा निरुद्ध एकाग्र नहीं हो जातीं, आत्मा का अपना शुद्ध स्वरूप यथा कथंचित् विस्मृत रहता है। वस्तुतः चित्तवृत्तियाँ ही संसार है, बन्धन है। चित्तवृत्तियों की विकृतावस्था में मिथ्या सत्य जैसा प्रतीत होता है। यह प्रतीति ध्वस्त हो जाए, आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को अधिगत कर ले, दूसरे शब्दों में अविद्या का आवरण क्षीण हो जाए, आत्मा परमात्मास्वरूप बन जाए, यही साधक का चरम लक्ष्य है। यही बन्धन से मुक्तता है, यही सत् चित् आनन्द का साक्षात्कार है।

इस स्थिति को आत्मसात् करने का मार्ग योग है। पतंजलि ने योगांगों का निरूपण करते हुए लिखा है—

“यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोष्ठावंगानि” (योगसूत्र २-२६)।

अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि—योग के ये आठ अंग हैं। इनका अनुष्ठान करने से चैतनिक मल अपगत हो जाता है। फलतः साधक या योगी के ज्ञान का प्रकाश विवेक ख्याति तक पहुँच जाता है। दूसरे शब्दों में उसे बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है।

जैन दर्शन के अनुसार केवलज्ञान, केवलदर्शन, आत्मिक सुख, क्षायिक सम्यक्त्व आदि आत्मा के मूल गुण हैं, जिन्हें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय, मोहनीय आदि कर्मों ने आच्छन्न कर रखा है। आत्मा को आवृत किये रहने वाले इन कर्मावरणों के सर्वथा अपाकरण से आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है। उसी परम शुद्ध, निरावरण आत्म-दशा का नाम मोक्ष है, जो परम आनन्दमय है।



आचार्य हरिभद्र का मौलिक चिन्तन

आचार्य हरिभद्र सूरि अपने युग के महान् प्रतिभाशाली विद्वान् थे। वे बहुश्रुत थे, समन्वयवादी थे, माध्यस्थ्य वृत्ति के थे। उनकी सर्वोत्तम प्रतिभा उन द्वारा रचित अनुयोगचतुष्क विषयक धर्म-संग्रहणी (द्रव्यानुयोग), क्षेत्र समास टीका (गणितानुयोग), पंचवस्तु, धर्मबिन्दु (चरणकरणानुयोग), समराइच्चकहा (धर्मकथानुयोग) अनेकान्तजयपताका (न्यायशास्त्र) तथा भारतवर्ष के तत्कालीन दार्शनिक आम्नायों से सम्बद्ध षड्दर्शनसमुच्चय आदि कृतियों से स्पष्ट है।

योग के सम्बन्ध में जो कुछ उन्होंने लिखा, वह केवल जैन योग वाङ्मय में ही नहीं प्रत्युत आर्यों की योग विषयक समग्र चिन्तन धारा में उनकी एक मौलिक देन है। जैन शास्त्रों में आध्यात्मिक विकास-क्रम का वर्णन चतुर्दश गुणस्थान तथा बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, गुण-तारतम्य पर आधृत इन आत्म-अवस्थाओं आदि को लेकर किया गया है। आचार्य हरिभद्र ने उसी आध्यात्मिक विकास क्रम को योग के रूप में व्याख्यात किया। उन्होंने वैसा करने में जिस शैली की अन्वेषणा की, वह तब तक उपलब्ध योग-साहित्य में अनुपलब्ध थी। उन्होंने इस क्रम को आठ योगदृष्टियों के रूप में विभक्त किया है। उन्होंने योगदृष्टि-समुच्चय में निम्नांकित आठ योग-दृष्टियाँ बतलाई हैं—

मित्रा तारा बला दीप्रा, स्थिरा कान्ता प्रभा परा ।

नामानि योग-दृष्टीनां, लक्षणं च निबोधत ॥ १४ ॥

इन आठ दृष्टियों को आचार्य हरिभद्र ने ओषदृष्टि और योगदृष्टि के रूप में दो भागों में बाँटा है। ओष का अर्थ प्रवाह है। प्रवाहपतित दृष्टि ओषदृष्टि है। दूसरे शब्दों में अनादि संसार प्रवाह में ग्रस्त और उसी में रस लेने वाले भवाभिनन्दी प्रकृत जनों की दृष्टि या लौकिक पदार्थ विषयक सामान्य दर्शन ओषदृष्टि है।

योगदृष्टि ओषदृष्टि का प्रतिरूप है। ओषदृष्टि जहाँ जागतिक उपलब्धियों को अभिप्रेत मानकर चलती है, वहाँ योगदृष्टि का प्राप्त केवल बाह्य जगत् ही नहीं, आन्तर जगत् भी है। उत्तरोत्तर विकास-पथ पर बढ़ते-बढ़ते अन्ततः केवल आन्तर जगत् ही उसका लक्ष्य रह जाता है।

बोध-ज्योति की तरतमता की दृष्टि से उन्होंने इन आठ दृष्टियों को क्रमशः तृण, गोमय व काण्ड के अग्निकणों के प्रकाश, दीपक के प्रकाश तथा रत्न, तारे, सूर्य एवं चन्द्रमा की ज्योति से उपमित किया है, जो निम्नांकित श्लोक से प्रकट है—

तृणगोमयकाष्ठाग्नि कणदीप प्रभोपमाः ।

रत्नतारार्कचन्द्राभाः सद्दृष्टेर्दृष्टिरष्टधा ॥ १५ ॥

प्रस्तुत उपमानों से ज्योति का वैशद्य प्रकट होता है।

यद्यपि इन प्रारम्भ की चार दृष्टियों का गुणस्थान प्रथम (मिथ्यात्व) है पर क्रमशः उनमें आत्म-उत्कर्ष और मिथ्यात्व-अपकर्ष बढ़ता जाता है। गुणस्थान की शुद्धिमूलक प्रकर्ष-पराकाष्ठा-उत्कर्ष की अन्तिम सीमा चौथी दृष्टि में प्राप्त होती है। अर्थात् आदि की चार दृष्टियों में उत्तरोत्तर मिथ्यात्व का परिमाण घटता जाता है और उसके फलस्वरूप उद्भूत होते आत्म-परिष्कार रूप गुण का परिमाण बढ़ता जाता है। यों चौथी दृष्टि में मिथ्यात्व की मात्रा कम से कम और शुद्धिमूलक गुण की मात्रा अधिक से अधिक होती है अर्थात् दीप्रा दृष्टि में कम से कम मिथ्यात्व वाला ऊँचे से ऊँचा गुणस्थान होता है। इसके पश्चात् पाँचवीं स्थिरा दृष्टि में मिथ्यात्व का सर्वथा अभाव होता है। सम्यक्त्व प्रस्फुटित हो जाता है। साधक उत्तरोत्तर विकास पथ पर बढ़ता जाता है। अन्तिम आठवीं दृष्टि में अन्तिम (चतुर्दश) गुणस्थान—आत्म-विकास की सर्वोत्कृष्टि स्थिति अयोगि-केवली के रूप में प्रकट होती है। इन उत्तरवर्ती चार दृष्टियों में योग-साधना का समग्र रूप समाहित हो जाता है।

इन दृष्टियों के परिपार्श्व में आचार्य हरिभद्र ने योग-साधना का जो मार्मिक विश्लेषण किया है, वह सुतरां माननीय एवं अनुशीलनीय है। विस्तार-भय से यहाँ सम्भव नहीं है।

आठ दृष्टियों के रूप में निरूपित क्रमिक विकास के अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार से भी आचार्य हरिभद्र ने आत्मा के विकास-क्रम को व्याख्यात किया है। उन्होंने इच्छा-योग, शास्त्र-योग तथा सामर्थ्य-योग के रूप में बड़ा सुन्दर विश्लेषण किया है। इसका आशय इस प्रकार है—

योग-तत्त्व के प्रति अभिमुख होना इच्छा-योग है। यह विकास का प्रथम सोपान है। अध्यात्म को जीवन में ढालने वाले, अनुभवी योगियों के वचन या साक्षात् उपदेश के आधार से योग-साधना की प्रेरणा जागृत होना शास्त्र-योग है।

अनुभवी द्वारा मार्ग-दर्शन और अपने अङ्गुष्ठ उत्साह तथा पुद्गल्य द्वारा स्वाधीन सामर्थ्य आत्मसात् करना सामर्थ्य योग है।

सामर्थ्य-योग की दशा प्राप्त कर लेने पर फिर किसी प्रकार के परावलम्बन की आवश्यकता नहीं पड़ती।

योगविशिका में योग की परिभाषा

आचार्य हरिभद्र ने अपनी प्राकृत-कृति योगविशिका में योग की परिभाषा निम्नांकित शब्दों में की है—

मोक्षेण जोयणाओ जोगो, सब्बो वि धम्मवावारो ।
परिशुद्धो विन्नेओ, ठाणाइगओ विसेसेण ॥१॥

संस्कृत छाया

मोक्षेण योजनातो योगः सर्वोऽपि धर्मव्यापारः ।
परिशुद्धो विज्ञेयः स्थानादिगतो विशेषेण ॥

आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि वह सारा व्यापार—साधना का उपक्रम, जो साधक को मोक्ष से जोड़ता है, योग है।

उसका क्रम वे उसी पुस्तक की दूसरी गाथा में इस प्रकार देते हैं।

ठाणुन्नत्थालंबण रहिओ, तंतम्मि पंचहा एसो ।
दुगमित्थ कम्म जोगो, तहा तियं नाण जोगोउ ॥ २ ॥

संस्कृत छाया

स्थानोर्णार्थालम्बान-रहितस्तन्त्रेषु पंचधा एषः ।
द्वयमत्र कर्मयोगस्तथा त्रयं ज्ञान-योगस्तु ॥

स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन तथा निरालम्बन—योग के ये पाँच प्रकार हैं। इनमें पहले दो अर्थात् स्थान और ऊर्ण क्रिया-योग के प्रकार हैं और बाकी के तीन ज्ञान-योग के प्रकार हैं।

स्थान का अर्थ—आसन, कायोत्सर्ग, ऊर्ण का अर्थ—आत्मा को योग-क्रिया में जोड़ते हुए प्रणव-प्रभृति मन्त्र-शब्दों का यथाविधि उच्चारण, अर्थ—ध्यान और समाधि आदि के प्रारम्भ में बोले जाने वाले मन्त्र आदि, तत्सम्बद्ध शास्त्र एवं उनकी व्याख्याएँ आदि में रहे परमार्थ तथा रहस्य का अनुचिन्तन, आलम्बन—बाह्य प्रतीक का आलम्बन लेकर ध्यान करना, निरालम्बन—मूर्त द्रव्य या बाह्य प्रतीक के आलम्बन के बिना निर्विकल्प, चिन्मात्र, सच्चिदानन्द स्वरूप का ध्यान करना।



आचार्य हरिभद्र द्वारा योगविशिका में दिये गये इस विशेषक्रम के विषय में यह तो केवल संकेत मात्र है, जिसके विशद अनुशीलन एवं तलस्पर्शी गवेषणा की आवश्यकता है।

आचार्य हेमचन्द्र आदि विद्वानों का चिन्तन

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र में योग की परिभाषा करते हुए लिखा है—

चतुर्वर्गोऽग्रणी मोक्षो योगस्तस्य च कारणम् ।

ज्ञानश्रद्धानचारित्र-रूपं रत्नत्रयं च सः ॥१. १५॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों में मोक्ष अग्रणी या मुख्य है। योग उसका कारण है। अर्थात् योग-साधना द्वारा मोक्ष लभ्य है। सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन तथा सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय ही योग है। ये तीनों जिनसे सधते हैं, वे योग के अंग हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र के बारह प्रकाशों में उनका वर्णन किया है।

योगांग

महर्षि पतंजलि ने योग के जो आठ अंग माने हैं, उनके समकक्ष जैन-परम्परा के निम्नांकित तत्त्व रखे जा सकते हैं—

१. यम	महाव्रत
२. नियम	योगसंग्रह
३. आसन	स्थान, काय-क्लेश
४. प्राणायाम	भाव-प्राणायाम
५. प्रत्याहार	प्रतिसंलीनता
६. धारणा	धारणा
७. ध्यान	ध्यान
८. समाधि	समाधि

महाव्रतों के वही पाँच नाम हैं, जो यमों के हैं। परिपालन की तरतमता की दृष्टि से व्रत के दो रूप होते हैं—महाव्रत, अणुव्रत। अहिंसा आदि का निरपवाद रूप में सम्पूर्ण परिपालन महाव्रत है, जिनका अनुसरण सर्वविदित श्रमणों के लिए अनिवार्य है। जब उन्हीं का पालन कुछ सीमाओं या अपवादों के साथ किया जाता है तो वे अणु—अपेक्षाकृत छोटे व्रत कहे जाते हैं। स्थानांग (५.१) समवायांग (२५), आवश्यक, आवश्यक-निर्युक्ति आदि अनेक आगम ग्रन्थों में इनके सम्बन्ध में विवेचन प्राप्त है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र के प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय प्रकाश में व्रतों का विस्तृत वर्णन किया है। गृहस्थों द्वारा आत्म-विकास हेतु परिपालनीय अणुव्रतों का वहाँ बड़ा मार्मिक विश्लेषण किया गया है। जैसा कि उल्लेख है, आचार्य हेमचन्द्र ने गुर्जरेश्वर कुमारपाल के लिए योगशास्त्र की रचना की थी। कुमारपाल साधनापरायण जीवन के लिए अति उत्सुक था। राज्य-व्यवस्था देखते हुए भी वह अपने को आत्म-साधना में लगाये रख सके, उसकी यह भावना थी। अतएव गृहस्थ-जीवन में रहते हुए भी आत्म-विकास की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर हुआ जा सके, इस अभिप्राय से हेमचन्द्र ने गृहस्थ-जीवन को विशेषतः दृष्टि में रखा।

आचार्य हेमचन्द्र ऐसा मानते थे कि गार्हस्थ्य में भी मनुष्य उच्च साधना कर सकता है, ध्यान-सिद्धि प्राप्त कर सकता है। उनके समक्ष उत्तराध्ययनसूत्र का वह आदर्श था, जहाँ “संति एरोहि भिक्खूहि गारत्था संजुमुत्तरा” इन शब्दों में तितिक्षापरायण, संयमोन्मुख गृहस्थों को किन्हीं-किन्हीं साधुओं से भी उत्कृष्ट बताया है। आचार्य शुभचन्द्र ऐसा नहीं मानते थे। उनका कहना था कि बुद्धिमान्-विवेकशील होने पर भी साधक, गृहस्थाश्रम, जो महादुःखों से

भरा है, अत्यन्त निन्दित है, में रहकर प्रमाद पर विजय नहीं पा सकता, चंचल मन को वश में नहीं कर सकता । अतः चैतसिक प्रशान्ति के लिए सत्पुरुषों ने गार्हस्थ्य का त्याग ही किया है ।

इतना ही नहीं, उन्होंने और भी कठोरतापूर्वक कहा कि किसी देश-विशेष और समय-विशेष में आकाश-कुसुम का अस्तित्व चाहे मिल सके, गर्दभ के भी सींग देखे जा सकें, किन्तु किसी भी काल तथा किसी भी देश-स्थान में गृहस्थाश्रम में रहते हुए ध्यान सिद्धि अधिगत करना शक्य नहीं है । ज्ञानार्णव के वे श्लोक इस प्रकार हैं—

न प्रमादजयं कर्तुं, धीधनैरपि पार्यते ।

महाव्यसनसंकीर्णं, गृह्वासेऽति-निन्दिते ॥४.६॥

शक्यते न वशीकर्तुं गृहिभिश्चपलं मनः ।

अतश्चित्तप्रशान्त्यर्थं सद्भिस्त्यक्ता गृहे स्थितिः ॥४.१०॥

खपुष्पमथवा शृंग खरस्यापि प्रतीयते ।

न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे ॥४.१७॥

आचार्य शुभचन्द्र ने जो यह कहा है, उसके पीछे उनका जो तात्त्विक मन्तव्य है वह समीक्षात्मक दृष्टि से विवेच्य है ।

ज्ञाप्य है कि सापवाद और निरपवाद व्रत-परम्परा तथा पतंजलि द्वारा प्रतिपादित यमों के तरतमात्मक रूप पर विशेषतः ऊहापोह तथा गवेषणा अपेक्षणीय है । पतंजलि ने “जाति देश काल समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमामहाव्रतम् (२.३१)” यों निरपेक्ष या निरपवाद रूप में यमों के पालन को जो महाव्रत शब्द से संज्ञित किया है, वह जैन परम्परा में स्वीकृत महाव्रत के सामकक्ष्य में है । योगसूत्र के व्यास-भाष्य में इस सन्दर्भ में विशद विवेचन है ।

नियम-योगसंग्रह

यमों के पश्चात् नियम आते हैं । नियम साधक के जीवन में उत्तरोत्तर परिष्कार लाने के साधन हैं । सम-वायांग सूत्र के बत्तीसवें समवाय में योग-संग्रह के नाम से बत्तीस नियमों का उल्लेख है, जो साधक की व्रतसम्पदा की वृद्धि करते हैं । आचरित अशुभ कर्मों की आलोचना, कष्ट में धर्म-दृढ़ता, स्वावलम्बी तप, यश की अस्पृहा, अलोभ, तितिक्षा, सरलता, पवित्रता, सम्यक्दृष्टि, विनय, धैर्य, संवेग, माया शून्यता आदि उनमें समाविष्ट हैं ।

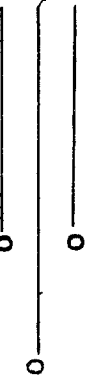
पतंजलि द्वारा प्रतिपादित नियम तथा समवायांग के योगसंग्रह परस्पर तुलनीय हैं । सब में तो नहीं पर अनेक बातों में इनमें सामंजस्य है । योग-संग्रह में एक ही बात को विस्तार से अनेक शब्दों में कहा गया है । इसका कारण है—जैन आगमों में दो प्रकार के अध्येता बताये गये हैं—संक्षेप-रुचि और विस्तार-रुचि । संक्षेप-रुचि अध्येता बहुत थोड़े में बहुत कुछ समझ लेना चाहते हैं और विस्तार-रुचि अध्येता प्रत्येक बात को विस्तार के साथ सुनना-समझना चाहते हैं । योगसंग्रह के बत्तीस भेद इसी विस्तार-रुचि-सापेक्ष निरूपण-शैली के अन्तर्गत आते हैं ।

आसन

प्राचीन जैन परम्परा में आसन की जगह स्थान का प्रयोग हुआ है । ओवनियुक्तिभाष्य (१५२) में स्थान के तीन प्रकार बतलाये गये हैं—ऊर्ध्व-स्थान, निषीदन-स्थान तथा शयन-स्थान ।

स्थान का अर्थ गति की निवृत्ति अर्थात् स्थिर रहना है । आसन का शाब्दिक अर्थ है बैठना; पर वे आसन खड़े, बैठे, सोते—तीनों अवस्थाओं में किये जाते हैं । कुछ आसन खड़े होकर करने के हैं, कुछ बैठे हुए और कुछ सोये हुए करने के हैं । इस दृष्टि से आसन शब्द की अपेक्षा स्थान शब्द अधिक अर्थसूचक है ।

ऊर्ध्व-स्थान—खड़े होकर किये जाने वाले स्थान—आसन ऊर्ध्व आसन कहलाते हैं । उनके साधारण, सविचार, सन्निहृद्, व्युत्सर्ग, समवाद, एकवाद तथा गृद्भोड्डीन—ये सात भेद हैं । निषीदन-स्थान—बैठकर किये जाने वाले स्थानों



—आसनों को निषीदन-स्थान कहा जाता है। उसके अनेक प्रकार हैं— निषद्या, वीरासन, पद्मासन, उत्कटिकासन, गोदो-हिका, मकरमुख, कुक्कुटासन आदि।

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र के चतुर्थ प्रकाश के अन्तर्गत पर्यकासन, वीरासन, वज्रासन, पद्मासन, भद्रासन दण्डासन, उत्कटिकासन या गोदोहासन तथा कायोत्सर्गासन का उल्लेख किया है।

आसन के सम्बन्ध में आचार्य हेमचन्द्र ने एक विशेष बात कही है। वे योगशास्त्र में लिखते हैं—

जायते येन येनेह, विहितेन स्थिरं मनः।

तत्तदेव विधातव्यमासनं ध्यानसाधनम् ॥४.१३४॥

अर्थात्—जिस-जिस आसन के प्रयोग से साधक का मन स्थिर बने, उसी आसन का ध्यान के साधन के रूप में उपयोग किया जाना चाहिए।

हेमचन्द्र के अनुसार अमुक आसनों का ही प्रयोग किया जाय, अमुक का नहीं, ऐसा कोई निर्बन्ध नहीं है।

पातंजल योग के अन्तर्गत तत्सम्बद्ध साहित्य—जैसे शिवसंहिता, घेरण्डसंहिता, हठयोगप्रदीपिका आदि ग्रन्थों में आसन, बन्ध, मुद्रा, षट्कर्म, कुम्भक, रेचक, पूरक आदि बाह्य योगांगों का अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया गया है।

काय-क्लेश

जैन परम्परा में निर्जरा के अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रसपरित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता, प्रायश्चित्त, विनय, ब्रह्मवृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग—इन बारह भेदों में पाँचवाँ काय-क्लेश है। काय-क्लेश के अन्तर्गत अनेक दैहिक स्थितियाँ भी आती हैं तथा शीत, ताप आदि को समभाव से सहना भी इसमें सम्मिलित है। इसका नाम काय-क्लेश संभवतः इसलिए दिया गया है कि दैहिक दृष्टि से जन-साधारण के लिए यह क्लेशकर है। पर, आत्मरत साधक जो देह को अपना नहीं मानता, जो क्षण-क्षण आत्माभिरति में संलग्न रहता है, इसमें कष्ट का अनुभव नहीं करता। औपपातिक सूत्र के बाह्य तप-प्रकरण में तथा दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की सप्तम दशा में इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन है।

प्राणायाम

जैन आगमों में प्राणायाम के सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन नहीं मिलता। जैन मनीषी एवं शास्त्रकार इस विषय में कुछ उदासीन से रहे, ऐसा अनुमित होता है। संभाव्य है, आसन तथा प्राणायाम को उन्होंने योग का बाह्यांग मात्र माना, अन्तरंग नहीं। वस्तुतः वह हठयोग के ही मुख्य अंग हो गये। लगभग छठी शताब्दी के पश्चात् भारत में एक ऐसा समय आया, जब हठयोग का अत्यन्त प्राधान्य हो गया। वह केवल साधन नहीं रहा, साध्य तक बन गया। तभी तो देखते हैं, घेरण्डसंहिता में आसनों को चौरासी से लेकर चौरासी लाख तक पहुँचा दिया।

हठयोग की अतिरंजित स्थिति का खण्डन करते हुए योगवासिष्ठकार ने लिखा है—

सती सु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये।

चेतस्ते दीपमुत्सृज्ये विनिध्नन्ति तमोऽञ्जनैः॥

विमूढा कर्तुमुद्युक्ता, ये हठाच्चेतसो जयम्।

ते निबध्नन्ति नागेन्द्रमुन्मत्तं विसतन्तुमिः॥

—योगवासिष्ठ, उपशम प्रकरण, ६. ३७-३८

अर्थात् इस प्रकार की चिन्तन—मननात्मक युक्तियों या उपायों के होते हुए भी जो हठयोग द्वारा अपने मन को नियन्त्रित करना चाहते हैं, वे मानो दीपक को छोड़कर काले अंजन से अन्धकार को नष्ट करना चाहते हैं। जो मूढ़ हठयोग द्वारा अपने चित्त को जीतने के लिए उद्यत हैं, वे मानो मृणाल-तन्तु से पागल हाथी को बाँध लेना चाहते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र तथा शुभचन्द्र ने प्राणायाम का जो विस्तृत वर्णन किया है, वह हठयोग-परम्परा से प्रभावित प्रतीत होता है।

भाव-प्राणायाम

कुछ विद्वानों (जैन) ने प्राणायाम को भाव-प्राणायाम के रूप में एक नई शैली से व्याख्यात किया है। उनके अनुसार बाह्यभाव का त्याग रेचक, अन्तर्भाव की पूर्णता पूरक तथा समभाव में स्थिरता कुम्भक है। श्वास-प्रश्वास-मूलक अभ्यास-क्रम को उन्होंने द्रव्य—बाह्य प्राणायाम कहा। द्रव्य-प्राणायाम की अपेक्षा भाव-प्राणायाम आत्म-दृष्ट्या अधिक उपयोगी है, ऐसा उनका अभिमत था।

प्रत्याहार

महर्षि पतंजलि ने प्रत्याहार का विश्लेषण करते हुए लिखा है—

स्वविषयासम्प्रयोगो चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। २.५४.

अर्थात्—अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकार सा हो जाना प्रत्याहार है।

जैन परम्परा में निरूपित प्रतिसंलीनता को प्रत्याहार के समकक्ष रखा जा सकता है। प्रतिसंलीनता जैन वाङ्मय का अपना पारिभाषिक शब्द है, जिसका आशय अशुभ प्रवृत्तियों से शरीर, इन्द्रिय तथा मन का संकोच करना है। दूसरे शब्दों में इसका तात्पर्य 'स्व' को अप्रशस्त से हटा प्रशस्त की ओर प्रयाण करना है। प्रतिसंलीनता के निम्नांकित चार भेद हैं—

- | | |
|--------------------------|-----------------|
| १. इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता | — इन्द्रिय-संयम |
| २. मनःप्रतिसंलीनता | — मन का संयम |
| ३. कषाय-प्रतिसंलीनता | — कषाय-संयम |
| ४. उपकरण-प्रतिसंलीनता | — उपकरण-संयम |

स्थूल रूप में प्रत्याहार तथा प्रतिसंलीनता में काफी दूर तक सामंजस्य प्रतीत होता है। पर, दोनों के अन्तः स्वरूप की सूक्ष्म गवेषणा अपेक्षित है, जिससे तत्तद्गत तत्त्वों का साम्य, सामीप्य अथवा पार्थक्य आदि स्पष्ट हो सकें। औपपातिक सूत्र बाह्य तप अधिकार तथा व्याख्या-प्रज्ञप्तिसूत्र (२५.७.७) आदि में प्रतिसंलीनता के सम्बन्ध में विवेचन है। निर्युक्ति, चूर्ण तथा टीका साहित्य में इसका विस्तार है।

धारणा, ध्यान, समाधि

धारणा, ध्यान और समाधि योग के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग हैं। पातंजलि तथा जैन—दोनों योग-परम्पराओं में ये नाम समान रूप में प्राप्त होते हैं। आचार्य हरिभद्र, हेमचन्द्र, शुभचन्द्र, यशोविजय आदि विद्वानों ने अपनी-अपनी शैली में इनका विश्लेषण किया है। धारणा के अर्थ में 'एकाग्रमनःसन्निवेशना' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है।

धारणा, ध्यान एवं समाधि—इन तीनों योगांगों का अत्यधिक महत्त्व इसलिए है कि साधक या योगी इन्हीं के सहारे दैहिक भाव से छूटता हुआ उत्तरोत्तर आत्मोत्कर्ष या आध्यात्मिक अभ्युदय की उन्नत भूमिका पर आरूढ़ होता जाता है। प्रश्नव्याकरणसूत्र के संवर द्वार तथा व्याख्या-प्रज्ञप्ति सूत्र के पच्चीसवें शतक के सप्तम उद्देशक आदि अनेक आगमिक स्थलों में ध्यान आदि का विशद विश्लेषण हुआ है।

पतंजलि ने धारणा का लक्षण करते हुए लिखा है—

“देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥” ३।१.

आकाश, सूर्य, चन्द्र आदि देह के बाहरी देश-स्थान हैं तथा हृत्कमल, नाभिचक्र आदि भीतरी देश हैं। इनमें से किसी एक देश में चित्त-वृत्ति लगाना धारणा है। ध्यान का लक्षण उन्होंने इस प्रकार किया है—



“तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥” ३. २.

अर्थात् ध्येयवस्तु में वृत्ति की एकतानता—उसी वस्तु में चित्त का एकाग्र हो जाना, बीच में किसी व्यवधान का न रहना ध्यान है।

समाधि के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

“तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥” ३. ३.

जब केवल ध्येय मात्र का ही निर्भास या प्रतीति हो तथा चित्त का अपना स्वरूप शून्य जैसा हो जाए, तब वह ध्यान समाधि हो जाता है। धारणा, ध्यान और समाधि का पातंजल योग की दृष्टि से यह संक्षिप्त परिचय है। भाष्यकार व्यास तथा वृत्तिकार भोज आदि ने इनका विशद एवं मार्मिक विवेचन किया है।

अन्तः परिष्कार या आध्यात्मिक विशुद्धि के लिए जैन साधना में ध्यान का बहुत बड़ा महत्त्व रहा है। अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर का अन्यान्य विशेषणों के साथ एक विशेषण ध्यान-योगी भी है। आचारांग-सूत्र के नवम् अध्याय में, जहाँ भगवान् महावीर की चर्या का वर्णन है, वहाँ उनकी ध्यानात्मक साधना का भी उल्लेख है। विविध आसनों से, विविध प्रकार से, नितान्त असंग भाव से उनके ध्यान करते रहने के अनेक प्रसंग वहाँ वर्णित हैं। एक स्थान पर लिखा है कि वे सोलह दिन-रात तक सतत ध्यानशील रहे। उनकी स्तवना में उन्हें वहाँ अनुत्तर ध्यान के आराधक कहा गया है तथा शंख और इन्दु की भाँति उनका ध्यान परम शुक्ल बताया गया है।

वास्तव में जैन-परम्परा की जैसी स्थिति आज है, भगवान् महावीर के समय में सर्वथा वैसी नहीं थी। आज लम्बे उपवास, अनशन आदि पर जितना जोर दिया जाता है, उसकी तुलना में मानसिक एकाग्रता, चैतसिक वृत्तियों का नियन्त्रण, ध्यान, समाधि आदि गौण हो गये हैं। परिणामतः ध्यान-सम्बन्धी अनेक तथ्यों तथा विधाओं का लोप हो गया है।

स्थानांगसूत्र स्थान या अध्ययन ४ उद्देशक १, समवायांगसूत्र समवाय ४, आवश्यकनिर्युक्ति कायोत्सर्ग अध्ययन में, इनके व्याख्यात्मक वाङ्मय में तथा और भी अनेक आगम ग्रन्थों एवं उनके टीका-साहित्य में एतत्सम्बन्धी सामग्री पर्याप्त मात्रा में लिखी पड़ी है।

आचार्य हेमचन्द्र और शुभचन्द्र ने ध्याता की योग्यता एवं ध्येय के स्वरूप का विवेचन करते हुए ध्येय को पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत यों चार प्रकार का माना है। उन्होंने पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी, वारुणी और तत्वभू के नाम से पिण्डस्थ ध्येय की पाँच धारणाएँ बताई हैं, जिनके सम्बन्ध में ऊहापोह, अनुशीलन तथा गवेषणा की विशेष आवश्यकता है। इसी प्रकार पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान का भी उन्होंने विस्तृत विवेचन किया है, जिनका सूक्ष्म अनुशीलन अपेक्षित है।

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र के सप्तम, अष्टम, नवम, दशम और एकादश प्रकाश में ध्यान का विशद विवेचन किया है।

धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान जो आत्म-निर्मलता के हेतु हैं, का उक्त आचार्यों (हरिभद्र, हेमचन्द्र, शुभचन्द्र) ने अपने ग्रन्थों में सविस्तार वर्णन किया है। ये दोनों (ध्यान) आत्मलक्षी हैं। शुक्लध्यान विशिष्ट ज्ञानी साधकों के सधता है। वह अन्तःस्वैर्य या आत्म-स्थिरता के पराकाष्ठत्व की दशा में है। धर्म-ध्यान उससे पहले की स्थिति है। वह शुभ-मूलक है। जैन परम्परा में अशुभ, शुभ और शुद्ध—इन तीन शब्दों का विशेष रूप से व्यवहार हुआ है। अशुभ पापमूलक, शुभ पुण्यमूलक तथा शुद्ध पाप-पुण्य से अतीत निरावरणात्मक दशा है।

तत्त्वार्थ सूत्र में धर्मध्यान के चार भेद बतलाये हैं—

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य ॥६. ३७.

अर्थात्—आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय तथा संस्थान-विचय—धर्मध्यान के ये चार भेद हैं। स्थानांग समवायांग, आवश्यक आदि अर्द्धमागधी आगमों में विकीर्ण रूप में इनका विवेचन प्राप्त होता है।

आज्ञा, अपाय, विपाक तथा संस्थान—ये ध्येय हैं। जैसे—स्थूल या सूक्ष्म आलम्बन पर चित्त एकाग्र किया जाता है, वैसे ही इन ध्येय विषयों या भावों पर चित्त को एकाग्र किया जाता है। इनके चिन्तन से चित्त की शुद्धि होती है, चित्त निरोध-दशा की ओर अग्रसर होता है, इसलिए इनका चिन्तन धर्मध्यान कहलाता है।

धर्म-ध्यान चित्तशुद्धि या चित्त-निरोध का प्रारम्भिक अभ्यास है। शुक्ल-ध्यान में वह अभ्यास परिपक्व हो जाता है।

मन सहज ही चंचल है। विषयों का आलम्बन पाकर वह चंचलता बढ़ती जाती है। ध्यान का कार्य उस चंचल एवं भ्रमणशील मन को शेष विषयों से हटा, किसी एक विषय पर स्थिर कर देना है।

ज्यों-ज्यों स्थिरता बढ़ती है, मन शान्त और निष्प्रकम्प होता जाता है। शुक्ल-ध्यान के अन्तिम चरण में मन की प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध—पूर्ण संवर हो जाता है अर्थात् समाधि अवस्था प्राप्त हो जाती है।

आचार्य उमास्वाति ने शुक्लध्यान के चार भेद बतलाये हैं—

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृत्तिनि । ६. ४१ ॥

पृथक्त्ववितर्कसविचार, एकत्ववितर्कअविचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति तथा व्युपरतक्रियानिवृत्ति ।

आचार्य हेमचन्द्र ने शुक्ल-ध्यान के स्वामी, शुक्ल-ध्यान का क्रम, फल, शुक्ल-ध्यान द्वारा घाति कर्मों का अपचय-क्षय आदि अनेक विषयों का विशद विश्लेषण किया, जो मननीय है।

जैन परम्परा के अनुसार वितर्क का अर्थ श्रुतावलम्बी विकल्प है। पूर्वधर—विशिष्ट ज्ञानी मुनि पूर्वश्रुत—विशिष्ट ज्ञान के अनुसार किसी एक द्रव्य का आलम्बन लेकर ध्यान करता है, किन्तु उसके किसी एक परिणाम या पर्याय (क्षण-क्षणवर्ती अवस्था विशेष) पर स्थिर नहीं रहता। वह उसके विविध परिणामों पर संचरण करता है—शब्द से अर्थ पर, अर्थ से शब्द पर तथा मन, वाणी एवं देह में एक दूसरे की प्रकृति पर संक्रमण करता है, अनेक अपेक्षाओं से विचरण करता है। ऐसा करना पृथक्त्ववितर्क शुक्ल-ध्यान है। शब्द, अर्थ, मन, वाक् तथा देह पर संक्रमण होते रहने पर भी ध्येय द्रव्य एक ही होता है, अतः उस अंश में मन की स्थिरता बनी रहती है। इस अपेक्षा से उसे ध्यान कहने में आपत्ति नहीं आती।

महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में सवितर्क-समापत्ति (समाधि) का जो वर्णन किया है, वह पृथक्त्व-वितर्क-सविचार शुक्लध्यान से तुलनीय है। योगसूत्र में वितर्क समापत्ति का विवेचन इस प्रकार है—

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णं सवितर्कं समापत्तिः ॥१.४२.

अर्थात्—शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनों के विकल्पों से संकीर्ण-सम्मिलित समापत्ति-समाधि सवितर्क-समापत्ति है।

जैन एवं पातंजल योग से सम्बद्ध इन दोनों विधाओं की गहराई में जाने से अनेक दार्शनिक तथ्यों का प्राकट्य संभाव्य है।

पूर्वधर—विशिष्ट ज्ञानी पूर्वश्रुत—विशिष्ट ज्ञान के किसी एक परिणाम पर चित्त को स्थिर करता है। वह शब्द, अर्थ, मन, वाक् तथा देह पर संक्रमण नहीं करता। वैसे ध्यान एकत्व-वितर्क-अविचार की संज्ञा से अभिहित है। पहले में पृथक्त्व है अतः वह सविचार है, दूसरे में एकत्व है, इस अपेक्षा से उसकी अविचार संज्ञा है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि पहले में वैचारिक संक्रमण है, दूसरे में असंक्रमण। आचार्य हेमचन्द्र ने उन्हें अपने योगशास्त्र में पृथक्त्व-श्रुत-सविचार तथा एकत्व-श्रुत-अविचार संज्ञा से अभिहित किया है। जैसे—

ज्ञेयं नानात्वश्रुतविचारमैक्यश्रुताविचारं च ।

सूक्ष्मक्रियमुत्सन्नक्रियमिति भेदैश्चतुर्धा तत् ॥११.५.



महर्षि पतंजलि द्वारा वर्णित निर्वितर्क-समापत्ति एकत्व-वितर्क-अविचार से तुलनीय है। पतंजलि लिखते हैं—

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्यमेवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ १.४३.

जब स्मृति परिशुद्ध हो जाती है अर्थात् शब्द और प्रतीति की स्मृति लुप्त हो जाती है, चित्तवृत्ति केवल अर्थमात्र का—ध्येयमात्र का निर्भास कराने वाली—ध्येय मात्र के स्वरूप को प्रत्यक्ष कराने वाली हो, स्वयं स्वरूप शून्य की तरह बन जाती है, तब वैसी स्थिति निर्वितर्का समापत्ति से संज्ञित होती है।

यह त्रिवेचन स्थूल ध्येय पदार्थों की दृष्टि से है। जहाँ ध्येय पदार्थ सूक्ष्म हों, वहाँ उक्त दोनों की संज्ञा सविचार और निर्विचार समाधि है, ऐसा पतंजलि कहते हैं—जैसे—

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥१.४४.

निर्विचार समाधि में अत्यन्त वैशद्य—नैर्मल्य रहता है। अतः योगी उनमें अध्यात्म-प्रसाद—आत्म-उल्लास प्राप्त करता है। उस समय योगी की प्रज्ञा ऋतम्भरा होती है। ऋतम् का अर्थ सत्य है। वह प्रज्ञा या बुद्धि सत्य का ग्रहण करने वाली होती है। उसमें संशय और भ्रम का लेश भी नहीं रहता। उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों के प्रभाव से अन्य संस्कारों का अभाव हो जाता है। अन्ततः ऋतम्भरा प्रज्ञा से जनित संस्कारों में भी आसक्ति न रहने के कारण उनका भी निरोध हो जाता है। यों समस्त संस्कार निहद्ध हो जाते हैं। फलतः संसार के बीज का सर्वथा अभाव हो जाने से निर्बीज-समाधि-दशा प्राप्त होती है।

इस सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण कुछ भिन्न है। जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा पर जो कर्मावरण छाये हुए हैं, उन्हीं के कारण उसका शुद्ध स्वरूप आवृत है। ज्यों-ज्यों उन आवरणों का विलय होता जाता है, आत्मा की वैभाविक दशा छूटती जाती है और वह स्वाभाविक दशा प्राप्त करती जाती है। आवरणों के अपचय या नाश के जैन दर्शन में तीन क्रम हैं—अय, उपशम तथा क्षयोपशम। किसी कार्मिक आवरण का सर्वथा नष्ट या निर्मूल हो जाना क्षय, अवधि विशेष के लिए मिट जाना या शान्त हो जाना उपशम तथा कर्म की कतिपय प्रकृतियों का सर्वथा क्षीण हो जाना तथा कतिपय प्रकृतियों का अवधि विशेष के लिए शान्त हो जाना क्षयोपशम कहा जाता है। कर्मों के उपशम से जो समाधि-अवस्था प्राप्त होती है, वह सबीज है; क्योंकि वहाँ कर्म-बीज का सर्वथा उच्छेद नहीं होता, केवल उपशम होता है। कार्मिक आवरणों के सम्पूर्ण क्षय से जो समाधि-अवस्था प्राप्त होती है, वह निर्बीज है; क्योंकि वहाँ कर्मबीज परिपूर्णरूपेण दग्ध हो जाता है। कर्मों के उपशम से प्राप्त उन्नत दशा फिर अन्नत दशा में परिवर्तित हो सकती है, पर कर्म-क्षय से प्राप्त उन्नत दशा में ऐसा नहीं होता।

पातंजल योग तथा जैन दर्शन के प्रस्तुत पहलू पर गहराई तथा सूक्ष्मता से विचार करने की अपेक्षा है।

कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। इसका ध्यान के साथ विशेष सम्बन्ध है। कायोत्सर्ग का शाब्दिक अर्थ है—शरीर का त्याग—विसर्जन। पर जीते-जी शरीर का त्याग कैसे संभव है? यहाँ शरीर के उत्सर्ग का अर्थ है शरीर की चंचलता का विसर्जन—शरीर का शिथिलीकरण, शारीरिक ममत्व का विसर्जन—शरीर मेरा है, इस ममत्वभाव का विसर्जन। ममत्व और प्रवृत्ति मन और देह में तनाव उत्पन्न करते हैं। तनाव की स्थिति में ध्यान कैसे संभाव्य है? अतः मन को शान्त व स्थिर करने के लिए शरीर को शिथिल करना बहुत आवश्यक है। शरीर उतना शिथिल होना चाहिए, जितना किया जा सके। शिथिलीकरण के समय मन पूरा खाली रहे, कोई चिन्तन न हो, जप भी न हो। यह न हो सके तो ओ३म् आदि का ऐसा स्वर-प्रवाह हो कि बीच में कोई अव्य विकल्प आ ही न सके। उत्तराध्ययन सूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति, दशत्रैकालिकचूर्णि आदि में विकीर्ण रूप में एतत्सम्बन्धी सामग्री प्राप्य है। अमितगति श्रावकाचार तथा मूलाचार में कायोत्सर्ग के प्रकार, काल-मान आदि पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

अमितगति श्रावकाचार में कायोत्सर्ग के कालमान में उच्छ्वासों का एक विशेष प्रकार दिया गया है, जो मननीय है। वह इस प्रकार है—

अष्टोत्तरशतोच्छ्वासः, कायोत्सर्गः प्रतिक्रमे ।
सान्ध्यो प्राभातिके वार्ध-मन्यस्तत्सप्तविंशतिः ॥
सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः संसारोन्मूलनक्षमे ।
सन्ति पंचनमस्कारे, नवधा चिन्तिते सति ॥६. ६८-६९.

प्रतिमाएँ

कायोत्सर्ग के प्रसंग में जैन आगमों में विशेष प्रतिमाओं का उल्लेख है। प्रतिमा अभ्यास की एक विशेष दशा है। भद्रा प्रतिमा, महाभद्रा प्रतिमा, सर्वजोमद्र प्रतिमा, महाप्रतिमा आदि में—कायोत्सर्ग की विशेष दशाओं में स्थित होकर भगवान् महावीर ध्यान करते रहे थे, ऐसा उन-उन आगमिक स्थलों में संकेत है, जो महावीर की साधना के इतिवृत्त से सम्बद्ध हैं। स्थानांगसूत्र में सुभद्रा-प्रतिमा का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त समाधि-प्रतिमा, उप-धान-प्रतिमा, विवेक प्रतिमा, व्युत्सर्ग प्रतिमा, क्षुल्लिकामोद-प्रतिमा, यवमध्यप्रतिमा, वज्रमध्यप्रतिमा आदि की आगम वाङ्मय में चर्चाएँ हैं। पर इनके स्वरूप तथा साधना के सम्बन्ध में विशेष कुछ प्राप्त नहीं है। अनुमान है, यह परम्परा लुप्त होगई। यह निश्चय ही एक गवेषणीय विषय है।

आलम्बन : अनुप्रेक्षा : भावना

ध्यान को परिपुष्ट करने के लिए जैन आगमों में उनके आलम्बन अनुप्रेक्षा आदि पर भी विचार किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र में इनकी विशेष चर्चा की है। उदाहरणार्थ, उन्होंने मैत्री, प्रमोद, करुणा तथा माध्यस्थ्य को धर्म-ध्यान का पोषक कहा है। जैसे—

मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यानि नियोजयेत् ।
धर्मध्यानमुपस्कृत् तद्धि तस्य रसायनम् ॥४.११७.

ध्यान के लिए अपेक्षित निर्द्वन्द्वता के लिए जैन साहित्य में द्वादश भावनाओं का वर्णन है। आचार्य हेमचन्द्र, शुभचन्द्र आदि ने भी इनका विवेचन किया है। वे भावनाएँ निम्नांकित हैं—

अनित्य, अशरण, भव, एकत्व, अन्यत्व, अशौच, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म, लोक तथा बोधि-दुर्लभता—इन भावनाओं के विशेष अभ्यास का जैन-परम्परा में एक मनोवैज्ञानिकता-पूर्ण व्यवस्थित क्रम रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। मानसिक आवेगों, तनावों को क्षीण करने के लिए निःसन्देह भावनाओं के अभ्यास का बड़ा महत्त्व है।

आलम्बन, अनुप्रेक्षा, भावना आदि का जो विस्तृत विवेचन जैन (योग के) आचार्यों ने किया है, उसके पीछे विशेषतः यह आशय रहा है कि चित्तवृत्तियों के परिष्कार, परिशोधन व निरोध के लिए अपेक्षित निर्मलता, ऋजुता, सात्त्विकता एवं उज्ज्वलता का अन्तर्मान में उद्भव हो सके।

अनुभूति

आचार्य हेमचन्द्र के योग-शास्त्र का अन्तिम प्रकाश अनुभव पर आधृत है। उसका प्रारम्भ करते हुए वे लिखते हैं—

श्रुतसिन्धोर्गुरुमुखतो यदधिगतं तदिह दर्शितं सम्यक् ।
अनुभवसिद्धमिदानीं प्रकाश्यते तत्त्वमिदममलम् ॥ १२.१.

शास्त्र समुद्र से तथा गुरुमुख से जो मैंने प्राप्त किया, वह पिछले प्रकाशों (अध्यायों) में मैंने भली-भाँति व्याख्यात कर ही दिया है। अब जो मुझे अनुभव से प्राप्त है, वह निर्मल तत्त्व प्रकाशित कर रहा हूँ।

